REVIEW OF RESEARCH
ISSN: 2249-894X
IMPACT FACTOR : 5.7631(UIF)
VOLUME - 11 | ISSUE - 1 | OCTOBER - 2021

कृषि और आर्थिक वृद्धि का अर्थव्यवस्था के संदर्भ में अभ्यास

हरीश कुमार

सारांश

समग्र आर्थिक विकास के लिए कृषि विकास एक आवश्यक शर्त है। हमने देखा कि मानव संसाधन विकास पर (सामाजिक सेक्टर निवेश के तरीके से जैसे, शिक्षा स्वास्थ्य, आधारभूत संरचना आदि पर) पर्याप्त ध्यान देना अर्थव्यवस्था के चहुंमुखी विकास के लिए महत्त्वपूर्ण है। सामान्यतया क्षेत्रीय विकास के लिए, और विशेष रूप से कृषि विकास के लिए, निर्धारित लक्ष्यों और उद्देश्य प्राप्त करने में नीतियों, कार्यक्रमों और परियोजनाओं का महत्त्व भी नोट किया गया। हमने देखा कि (i) भारत विकास की मध्यवर्ती अवस्था में है जिसमें लुईस आदि द्वारा अभिग्रहीत क्षेत्रीय श्रमिक स्थानांतरण की प्रक्रिया कार्य कर रही है, और (ii) 4 प्रतिशत वार्षिक दर से कृषि उत्पादन की वृद्धि देश की धारणीय समन्वित आर्थिक प्रगति के लिए आवश्यक है।

प्रस्तावना

कृषि भारतीय अर्थव्यवस्था में आजीविका का मुख्य स्रोत रहा है। पिछले छह दशकों के दौरान अर्थव्यवस्था के क्षेत्रीय विवरण में बड़े संरचनात्मक परिवर्तनों के बावजूद भारत में श्रमिक बल के बहुत बड़े भाग की आजीविका का मुख्य स्रोत कृषि रहा है। इसलिए कृषि को देश की समग्र नीति में महत्त्वपूर्ण सेक्टर माना जाता रहा है। यह अनुमान लगाया गया है कि कृषि द्वारा उत्पन्न किए गए प्रत्येक अतिरिक्त रुपए में ग्रामीण क्षेत्रों में विभिन्न आर्थिक कार्यों से आय में तीन अन्य अतिरिक्त रुपए जुड़ते हैं । इसके अलावा, शहरी अर्थव्यवस्था (जैसे उद्योग, परिवर्तन, बैंकिंग आदि) के बहुत से द्वितीयक और तृतीयक सेक्टरों को इसके गुणक प्रभावित करते हैं। भारतीय अर्थ व्यवस्था के कुल GDP में कृषि सेक्टर के सापेक्ष महत्त्व में पिछले छह दशकों में स्पष्ट गिरावट दिखाई है। अर्थव्यवस्था दोहरे अंकों में संवृद्धि के लिए कृषि में न्यूनतम की संवृद्धि अत्यावश्यक मानी जा रही है। यदि ऐसा है तो हमें कृषि विकास के लिए आवश्यक शर्तें जानना उचित होना। इसके उत्तर के लिए हम कुछ महत्त्वपूर्ण सैद्धांतिक पूर्वधारणाओं पर चर्चा करेंगे।

कृषि विकास के लिए शर्तें : सैद्धांतिक पृष्ठभूमि

आर्थिक विकास में कृषि की भूमिका फिजियोक्रेट्स या प्रकृतितंत्रवादी (अर्थात् अंग्रेज क्लासिकी आर्थिक सिद्धांतवादियों से पहले फ्रांसीसी अर्थशास्त्रियों के वर्ग) के समय से ही स्वीकार की गई है। फिजियोक्रेट्स के अनुसार यह केवल कृषि सेक्टर था जिसने उत्पादन लागत से अधिक आर्थिक अधिशेष उत्पादित किया। वे इस दृष्टि से विनिर्माण और वाणिज्य को अनुत्पादनकारी समझते थे कि इन सेक्टरों द्वारा प्रयुक्त कच्चे माल के मूल्य

में वृद्धि उत्पादन की प्रक्रिया में प्रयुक्त श्रम और पूँजी का भुगतान करने के लिए ही पर्याप्त है। इस दृष्टि से फिजियोक्रेट्स ने कृषि को आर्थिक विकास में सबसे अधिक महत्त्वशाली समझा। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वाद्ध के दौरान प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने भी आर्थिक विकास में कृषि का महत्त्व स्वीकार किया किंतु उसकी वृद्धि को उन्होंने उद्योग की वृद्धि से यथाविधि जोड़कर ही देखा। उदाहरण के लिए, एडम स्मिथ के बुनियादी संवृद्धि प्रतिमान ने समग्र आर्थिक विकास के लिए आवश्यक गैर-कृषि उत्पादन की सहायता करने के लिए कृषि अधिशेष के उत्पादन पर विचार किया। सामान्यतः इन अर्थशास्त्रियों का रोचक तर्क परिसंचरण (circularity) की अवधारणा थी जिसमें ''प्रौद्योगिकी, निवेश और लाभ'' के बीच अंतःसंबंध की विशेषता बताई गई थी। इसका अभिप्राय है कि प्रौद्योगिकी का स्तर निवेश के स्तर पर निर्भर करता है, निवेश लाभ पर निर्भर करता है और लाभ आंशिक रूप से प्रौद्योगिकी के स्तर पर निर्भर करता है।

इसलिए चिर प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने स्वतः कृषि विकास पर ध्यान केंद्रित नहीं किया। परन्तु उन्होंने आर्थिक वृद्धि को कृषि के विकास पर अप्रत्यक्ष रूप से आश्रित माना, क्योंकि, आर्थिक संक्रमण काल की प्रारंभिक अवस्था में अधिकांश अर्थव्यवस्थाएँ (विशेष कर कृषि से विकसित हो रही अर्थव्यवस्थाएँ) अपने अधिकांश श्रमिक बल के भरण पोषण के लिए कृषि पर निर्भर होंगी। कोई भी कल्पना कर सकता है कि आधुनिक समय में भी जब बहुत से देशों में खाद्य सामग्री के लिए दंगे देखे गए हैं, विश्वव्यापी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए वहां पर्याप्त उत्पादन करने के संबंध में कृषि का महत्त्व सुनिश्चित किया जाना चाहिए, [वास्तव में उत्पादन कहीं भी हो]। विकास के क्लासिकी सिद्धांतों ने वृद्धि और विकास के बीच स्पष्ट अंतर नहीं किया परन्तु माना है कि विकास अपनी स्वाभाविक वृद्धि का अनुसरण करेगा। द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति समय, अर्थात् 1945 के आस-पास विकास अपने आप में अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र बन गया। इस भाग में हम ऐसे चार सिद्धांतों का अध्ययन करेंगे : (i) लुईस का द्वि-क्षेत्रक (दो सेक्टर) आर्थिक प्रतिमान (1954); (ii) फाई और रेनिस द्वारा प्रतिपादित ''औद्योगिकीकरण के लिए तीन प्रावस्था संबंधन'' (1961), (iii) शूल्ज–जॉर्गेनसन द्वारा रचित ''सेक्टर संबंधी अंतरण के लिए आवश्यक शर्तें'' प्रतिमान (1964), और (iv) अनेक योगदान कर्ताओं द्वारा प्रस्तुत ''विकास युक्ति के रूप में कृषि पहलें'' या ''संतुलित वृद्धि दृष्टिकोण'' जिन्हों ने विकास योजना के प्रमुख भाग के रूप में सेक्टर संबंधन के पारस्परिक सहयोगशील संबंध को देखा।

द्वि.क्षेत्रक अर्थव्यवस्था प्रतिमान : लुईस का तर्क

डब्ल्यू आर्थर लुईस (1954) ने अपना प्रतिमान इस तर्क पर स्थापित किया कि बहुत से विकासशील देशों में कृषि सेक्टर जीवन निर्वाह करने वाला विशाल श्रम बल विद्यमान था जिसकी सीमांत उत्पादिता बहुत कम (शून्य के समीप) थी और इसलिए निर्वाह मजदूरी स्तर पर उपलब्ध अधिवेशन श्रम बल को अधिक उत्पादनकारी आधुनिक (औद्योगिक) सेक्टर में स्थानांतरित किया जा सकता था। ये स्थानांतरण कृषि सेक्टर के निर्वाह मजदूरी से किंचित अधिक मजदूरी दर पर किया जा सकता है (ताकि कृषि सेक्टर से ''पूँजीवादी सेक्टर'' में जाने का अवरोध समाप्त हो सके)। परन्तु पूँजीवादी सेक्टर को तो ''कुशल कामगारों'' की आवश्यकता होती है। किंतु इस बात को लुईस ने अस्थायी अवरोध ही माना था, क्योंकि ''अकुशल कामगारों'' को उनकी कुशलता का स्तर बढ़ाने के लिए प्रशिक्षण दिया जा सकता है। अधिक निवेश और प्रौद्योगिकी के कारण ''पूँजीवादी सेक्टर (अर्थात् औद्योगिक सेक्टर या गैर- कृषि सेक्टर) में श्रम की सीमांत उत्पादकता कृषि सेक्टर में प्रभावी मजदूरी दर की अपेक्षा उच्चतर होगी। इसलिए यह पूँजी अधिशेष का सृजन करता है जिसे आगे पूँजी निर्माण के उच्चतर स्तरों में निवेश किया जा सकता है। बढ़ा हुआ निवेश पूँजीवादी सेक्टर में श्रम की सीमांत उत्पादकता आगे बढ़ा सकता है। आगे चलकर यह निर्वाह क्षेत्र के अधिक लोगों के लिए रोजगार के अवसर संभव बना सकता है। पूँजीवादी नियोक्ता तब तक कृषि से अतिरिक्त श्रमिकों की भर्ती करेंगे जब तक श्रम की आपूर्ति मजदूरी प्रति लोचशील हो। कुछ आलोचकों ने उल्लेख किया है कि कृषि से प्रछन्न बेरोजगारों के विलयन द्वारा विकास संबंधी लुईस का आशावाद अवास्तविक है क्योंकि कृषि उत्पाद में गिरावट के बिना बड़ी संख्या में श्रमिकों का स्थानांतरण संभव नहीं है।

फिर भी, लुईस का प्रतिमान विवेकशीलता और पूर्ण प्रतिस्पर्धा की मान्यताओं पर आधारित है। इन मान्यताओं को ध्यान में रखते हुए (जो विरले ही वास्तविकता में पूर्ण होती हैं, क्योंकि शासन/संस्थागत

चुनौतियां उनके उल्लंघन के परिणामों को न्यूनतम करने के इर्दगिर्द केंद्रित होती हैं)। लुईस का तर्क विशाल कृषि अर्थव्यवस्थाओं के लिए लागू होता है। अन्यों द्वारा की गई क्रमिक प्राप्ति लुईस के द्वि-क्षेत्रक सिद्धांत को परिष्कृत करती है और इसे पूँजीवादी बाजार आधारित अर्थव्यवस्थाओं की व्यावहारिताओं के अधिक अनुरूप बनाता है। ''वास्तव में, लुईस ने कल्पना की थी कि श्रम स्थानांतरण की प्रक्रिया अनिश्चित काल तक जारी नहीं रखी जा सकती और किसी न किसी समय पर समाप्त होनी चाहिए। इसलिए उसने तर्क दिया कि जब वह हो जाता है तो, अन्य श्रम अधिशेष देशों से आप्रवासन प्रोत्साहित कर, या निर्वाह मजदूरी दर पर श्रमिकों की प्रचुर आपूर्ति वाले देशों को पूँजी का निर्यात कर पूँजी निर्माण की प्रक्रिया जारी रखी जा सकती है। इस प्रकार लुईस का मॉडल सामान्यतः आर्थिक विकास की प्रक्रिया समझने के लिए अपने आप में पूरी रूपरेखा प्रदान करता है। फिर भी उसके सिद्धांत के विरुद्ध की गई तर्कसंगत आलोचनाओं में निम्नलिखित शामिल हैं :

(i) श्रम स्थानांतरण की प्रक्रिया लाभ की दर और पूँजी निर्माण की दर बनाए रखने के लिए योगदानकारी कृषि मजदूरी को भी आशा से अधिक नीचे ले जाएगी;

(ii) पूँजीवादी नियोक्ता अधिशेष शेष का प्रयोग विकास प्रयोजनों में उसे वापस लगाने के बदले गैर-उत्पादनकारी कार्य में लगा सकता है,

(iii) अपनी बढ़ती हुई प्रत्याशाओं को पूरा करने के लिए ग्रामीण गरीब भी अधिक खपत और कम बचत कर सकते हैं, इससे विकास की गति मंद पड़ सकती है, इत्यादि।

रेनिस और फाई ने इस मॉडल में एक सुधार सुझाया था। उन्होंने ''उपेक्षित'' कृषि सेक्टर की भूमिका का पहले विश्लेषण कर अपने सिद्धांत पर गहनता से विचार किया और तब कृषि उत्पादकता में वृद्धि की संभावना प्रयोग कर स्थैतिक (States) विश्लेषण को सामान्य नियम का रूप दिया।

औद्योगिकीकरण से त्रि.प्रावस्था संबंधन : फाई और रेनिस

फाई और रेनिस ने कृषि से उद्योग में अधिशेष श्रमिक स्थानांतरण की तीन पृथक प्रावस्थाएं बताई हैं । पहली ''अधिशेष श्रमिकों'' के संग्रह की विद्यमानता तक रहेगी। इस प्रावस्था के दौरान कृषि से उद्योग में श्रमिकों के स्थानांतरण से कृषि उत्पादन पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं होगा। दूसरी प्रावस्था में, उस अधिशेष श्रमिक संग्रह होने वाला है, लुईस का वर्तन बिंदु (संधिकाय) कहलाता है। यहां कृषि में श्रम की सीमांत उत्पादकता बढ़नी शुरू होगी। यहां कृषि से उद्योग में श्रम के स्थानांतरण के लिए सकारात्मक अवसर लागत होती है, अर्थात्, कृषि में उत्पादन में गिरावट के बिना श्रम स्थानांतरित नहीं हो सकता। परन्तु इस अवस्था में भी जब तक कृषि मजदूरी दर की अपेक्षा औद्योगिक मजदूर दर अधिक रहेगी, अर्थात् द्वि- क्षेत्रक मजदूरी दर कृषि से उद्योग में श्रमिकों का स्थानांतरण जारी रहेगा। इसका परिणाम होगा कि कृषि उत्पाद में सीमांत गिरावट के साथ अर्थ व्यवस्था के उत्पाद में वृद्धि होगी। परन्तु एक स्थिति में जब कृषि श्रम का सीमांत उत्पाद औद्योगिक मजदूरी के बराबर हो जाता है (जैसे तीसरी प्रवस्था में) तो आर्थिक संवृद्धि में आगे प्रगति निम्नलिखित से संरोधित हो जाती है: (i) प्रौद्योगिकी प्रगति और (ii) उन्नत आधारभूत संरचना द्वारा अर्थव्यवस्था की समावेश क्षमता। फाई और रेनिस के विश्लेषण से मुख्य संदेश यह निकलता है कि आर्थिक रूपांतरण की प्रारंभिक अवस्थाओं में कृषि समग्र आर्थिक वृद्धि को कोई क्षति पहुंचाए बिना अधिशेष श्रम मुहैया कराती है। परन्तु बाद की अवस्थाओं में ऐसा आवश्यक नहीं रहता है। यद्यपि इस स्थिति का सामना करते समय संतुलित संवृद्धि कार्यनीति (अर्थात् कृषि और उद्योग दोनों की समन्वित वृद्धि) बहुत से सिद्धांतवादियों द्वारा प्रस्तुत की गई थी परन्तु शूल्त्ज–जॉर्गेनसन ने सेक्टर संबंधी अंतरण के लिए आवश्यक शर्तों का निरूपण किया है।

कृषि विकास के निर्धारक तत्त्व

कृषि विकास को प्रभावित करने वाले कारक अनेक हैं। उनमें भौतिक, प्रौद्योकीय, आर्थिक, सामाजिक सांस्कृतिक, संस्थागत, संगठनात्मक, राजनीतिक कारक शामिल हैं । ये सभी कारक भिन्न-भिन्न स्तरों पर कार्य करते हैं, जैसे : परिवार, गांव, जिला, राज्य, राष्ट्र और समग्र रूप में विश्व। इनकी नियंत्रण विधि के आधार पर विकास पर इन कारकों का अनुकूल और प्रतिकूल प्रभाव हो सकता है। उदाहरण के लिए, यदि देश के मानव संसाधन उचित पोषण, स्वास्थ्य देख-भाल, शिक्षा और प्रशिक्षण द्वारा समुचित ढंग से विकसित नहीं किए जाते हैं,

तो उन्हें उत्पादकता की दृष्टि से प्रयुक्त नहीं किया जा सकता है। ऐसे संसाधन विकास के लिए बोझ और बाधा बन जाते हैं । परन्तु, यदि उन्हें समुचित ढंग से विकसित किया जाता है और उपयोग में लाया जाता है, तो, वे विकास के लिए बड़ी परिसंपत्तियां और प्रमुख सहयोगी कारक होते हैं। कृषि विकास पर विभिन्न निर्धारक तत्त्वों के प्रभाव के स्वरूप और परिणाम के बारे में ज्ञान, दक्षता और प्रभाविकता से आगे बढ़ना आवश्यक है।

कृषि विकास नीतियाँ

मोटेतौर पर ''नीति'' को विकल्पों के समूह में से चुनी हुई निश्चित कार्रवाई के रूप में परिभाषित किया गया है। अधिक सामान्य दृष्टि में ''नीति प्रक्रिया'' का संबंध विशिष्ट रूप से परिभाषित कार्य योजना का निरूपण, प्रख्यापन और अनुप्रयोग से है। यहां हम सार्वजनिक कृषि विकास नीतियों से संबद्ध रहेंगे, जिसका अभिप्राय कृषि संवर्धन के निश्चित उद्देश्यों के अनुसरण में सरकार द्वारा की गई कार्रवाई है। इस संदर्भ में (क) नीति; (ख) कार्यक्रम; और (ग) परियोजना के बीच अंतर करना महत्त्वपूर्ण है। नीति एक व्यापक शब्द है जिसमें बहुत से कार्यक्रम सम्मिलित होते हैं। इसी प्रकार कार्यक्रम में बहुत परियोजनाए होती हैं। नीति कार्यान्वयन से पहले कई कार्यक्रमों का निर्धारित किया जाता है। कार्यक्रम ही निर्दिष्ट करते हैं कि क्या, कैसे, जिसके द्वारा और कहां किया जाना है। परियोजना भी उद्देश्यों, अवस्थिति, अवधि, फंड, निष्पादनकारी एजेंसी आदि के अनुसार अधिक सुस्पष्ट और ब्योरेवार होती है। इस प्रकार परियोजना नीति कार्रवाई की अंतिम ''इकाई'' के रूप में आती है। कार्यक्रम में कई परियोजनाएं हो सकती हैं। इसलिए कृषि विकास परियोजना को ऐसे निवेश कार्य के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जहां संसाधनों को कतिपय पूर्व निर्धारित लक्ष्य प्राप्त करने के लिए निश्चित समयावधि में लगाया जाता है।

कृषि विकास नीति के लक्ष्य

कृषि विकास नीतियाँ उन दशाओं को सुधारने के लिए तैयार की जाती हैं जिनमें ग्रामीण लोग कार्य करते हैं और रहते हैं। नीतियों के लक्ष्य लोगों की इच्छा द्वारा नियंत्रित होते हैं। ''नीति उपाय'' इस बात को महत्त्व देता है कि लोग क्या सोचते हैं, सरकार क्या कर सकती है और वांछित परिवर्तन लाने के लिए क्या करना चाहिए, यह सार्वजनिक नीति का सिद्धांत है। परिवर्तन केवल तभी वांछित होते हैं, जब लोग जिस तरीके में काम हो रहा है, उसे पसंद नहीं करते सार्वजनिक कार्रवाई के लिए दबाव तब उत्पन्न होते हैं जब लोग अनुभव करते हैं कि वे व्यक्तिशः रूप से वांछित परिवर्तन नहीं ला सकते। उनके मन में आदर्श स्थिति के कुछ मानदंड या कुछ छवि होती है, जिसकी वे आकांक्षा करते हैं। ये मानदंड नीति के लक्ष्य हो जाते हैं जिनकी ओर सुस्पष्ट कार्यक्रमों के उद्देश्यों को दिग्वर्तित किया जाता है। भारत के संविधान में प्रतिष्ठापित ''राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांतों में आर्थिक नीति के दो प्रबल लक्ष्यों को देखना संभव हैः i) राष्ट्रीय आय बढ़ाना और ii) समाज के सदस्यों में राष्ट्रीय आय के वितरण में सुधार करना। इसलिए ये लक्ष्य उन सभी आर्थिक नीतियों में परिलक्षित किए जाते हैं जो पंचवर्षीय योजनाओं में निर्दिष्ट होते हैं। जो लक्ष्य ''समावेशी वृद्धि'' प्राप्त करने का प्रयास करता है उसे राजनीति के चार महत्त्वपूर्ण आयामों के संदर्भ में देखा जाना आवश्यक है : i) नागरिकों के ''जीवन स्तर'' का सुधार, ii) ''उत्पादनकारी रोजगार'' अवसर पैदा करना; iii) संतुलित क्षेत्रीय विकास की स्थापना; और iv) आत्मनिर्भरता प्राप्त करना।

कृषि विकास नीतियों का वर्गीकरण

टिनबेर्जेन गुणात्मक नीति और परिमाणात्मक नीति के बीच अंतर करता है। गुणात्मक नीति नए संस्थानों के निर्माण, विद्यमान संस्थाओं का संशोधन और प्राइवेट फर्मों के संवर्धन द्वारा आर्थिक संरचना को परिवर्तन करने का प्रयास करती है। परिमाणात्मक नीति कुछ प्राचलों के आकार (जैसे कर-दर में परिवर्तन) बदलने का प्रयास करती हैं। एक उदाहरण, जो गुणात्मक और परिमाणात्मक दोनों का निरूपण करता है, निःशुल्क शिक्षा प्रणाली प्रारंभ करने की नीति है, यह गुणात्मक भी है, क्योंकि, यह आर्थिक संरचना में परिवर्तन लाने का प्रयास करता है; और परिमाणात्मक है, क्योंकि, यह सेवा के लिए ली गई फीस से परिवर्तन दर्शाता है।

कृषि विकास : औद्योगिकीकरण का प्रस्तावना

साधारणतया लुईस द्वारा प्रस्तुत सिद्धांत आर्थिक रूपांतरण की प्रक्रिया सभी अर्थव्यवस्थाओं, अर्थात् विकसित और विकासशील दोनों के लिए लागू होती है। परन्तु किसी देश के रूपांतरण की गति प्रत्यक्ष रूप से उस गति से भिन्न है जिस पर देश द्वारा आवश्यक संस्थागत क्रिया-विधियाँ संस्थापित की गई हैं। ऐसे रूपांतरण से कृषि पर आश्रित श्रमिक बल के अनुपात में गिरावट आएगी और गैर-कृषि सेक्टर (अर्थात् उद्योग और सेवाओं) उसमें बढ़ोतरी होगी। भारत और विकसित अर्थव्यवस्थाओं का रोजगार और आय (अर्थात् राष्ट्रीय आय) में अर्थव्यवस्था के तीन मुख्य सेक्टरों के सापेक्ष अंश की तुलनात्मक जानकारी दी गई है। यद्यपि भारत में कृषि सेक्टर में कामगारों का अनुपात अब लगभग 52 प्रतिशत है, विकसित देशों में यह केवल 1 से 5 प्रतिशत की सीमा में है। भारत का औद्योगिक रोजगार का अंश, (कुल रोजगार में) अब लगभग 14 प्रतिशत है, किंतु ये विकसित अर्थव्यवस्थाओं के अंश का लगभग आधा है। इसके अलावा भारत में 1950–2010 की छह दशाब्दियों की अवधि में औद्योगिक रोजगार का स्तर केवल लगभग 4 से 5 प्रतिशत बिंदु तक बढ़ा है (यह 1950 के दशक के दौरान लगभग 9–10 प्रतिशत था। जो छह दशकों की लंबी अवधि के दौरान भारत की औद्योगिकीकरण की काफी कम उपलब्धि दर्शाता है। इसके बावजूद कृषि रोजगार के शेयर में गिरावट (इस अवधि में) कम नहीं है। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय यह 72 प्रतिशत था जो 2002 के बाद के वर्षों में 52 प्रतिशत हो गया। यद्यपि यह गिरावट श्रम स्थानांतरण की इस कल्पना को बल देता है कि श्रमिक कृषि से गैर-कृषि (अर्थात् उद्योग + सेवा) में स्थानांतरित हुई है, जैसा कि लुईस द्वारा प्रस्तुत किया गया है, फिर भी विकसित अर्थव्यवस्था का स्तर प्राप्त करने के लिए भारत को अभी ठोस तरीके से आगे बढ़ना है।

संदर्भ

1) Ashok Gulati and Tim Kelley (2003): *Trade Liberalisation and Indian Agriculture*, Oxford, New Delhi.
2) G.S. Bhalla (2007): *Indian Agriculture Since Independence*, NBT, New Delhi.
3) Kartar Singh (2009): *Rural Development: Principles, Policies and Management*, Sage, 3rd Edition.
4) Ranis, Gustav (2004): *Arthur Lewis's Contribution to Development Thinking and Policy*, The Manchester School, Volume 72, No. 6, December, pp 712-723.

हरीश कुमार